पाणिनि और वैदिक व्याकरण

पुष्पा दीक्षित

अष्टाध्याय्याः समस्तसूत्राणि वैदिकप्रयोगान् साधयन्ति। इमानि सूत्राणि वैदिक-लौकिकभेदेन वर्गीकृतानि दृश्यन्ते। इयं हि भ्रान्तिरेव, वस्तुतस्तु पाणिनिना न तथा सूत्राणि प्रणीतानि। उभयप्रयोगान् समं साधयितुमेव वर्ततेऽष्टाध्यायीति सप्रमाणं निरूपयति लेखेऽस्मिन् प्रस्तोत्री।

संहिताओं को छोड़कर समस्त वैदिक वाङ्मय में व्याकरणशास्त्र का उल्लेख मिलता है, जो बतलाता है कि वेदों के काल में व्याकरणशास्त्र पूर्ण व्यवस्थित था।

भगवान पाणिनि के पूर्व के लगभग ८५ वैयाकरणों का उल्लेख यत्र तत्र मिलता है, जिनमें से १० का उल्लेख तो भगवान् पाणिनि ने ही किया है। स्पष्ट है कि वेदों से लेकर पाणिनि तक व्याकरण की एक समृद्ध तथा व्यवस्थित परम्परा थी जो अविच्छिन्न भी थी। इसके प्रमाण हैं–

पदमञ्जरीकार हरदत्त कहते हैं–

कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन।.....पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन् आपिशलादिना पूर्वास्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते। एवमापिशालिः। अनादिरयं संसारः।

वाल्मीकि रामायण में 'सोऽयं नवव्याकरणार्थ' वेत्ता कहकर (उत्तरकाण्ड ३६/४७) नौ व्याकरण बतलाये गये हैं। बोपदेब व्याकरण कहते हैं–

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशब्दिकाः॥ (कविकल्पद्रुम)

महाभारत के टीकाकार देवबोध कहते हैं कि माहेन्द्र व्याकरण समुद्र और व्यापक है, उसके सामने पाणिनिव्याकरण गोष्पद के बराबर है–

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवत्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

इस माहेन्द्र अथवा ऐन्द्र व्याकरण का परिमाण २५ हजार श्लोक था। संग्रह ग्रन्थ में एक लाख श्लोक थे, तथापि वर्तमान में हमें जो व्याकरण उपलब्ध होते हैं, वे तीन प्रकार के हैं।

१. वैदिक व्याकरण – प्रातिशाख्यादि।

२. लौकिक व्याकरण – कातन्त्रादि।

३. लौकिक वैदिकोभय व्याकरण – पाणिन्यादि।

यद्यपि निरुक्तकार ने एक-एक शब्द के निर्वचन में अनेक धातु उपस्थित किये हैं, यथा–हस्तो हन्तेः। वीरो वेतेर्वा वीरयतेर्वा। अध्वरं युनक्ति, अध्वरस्य नेता, अध्वरं कामयते वा अध्यवर्युः आदि। तथापि निरुक्त में अर्थ का चिन्तन है। प्रकृति प्रत्यय व्याकृति रूप व्याकरण का नहीं।

प्रातिशाख्य जिन्हें वैदिक व्याकरण कहा जाता है, वे भी वस्तुतः व्याकरण नहीं है। इनमें व्याकरण के एकदेश सन्धि आदि का निर्देश होने से लोक में इनकी प्रसिद्धि व्याकरण के रूप में है। तथापि संज्ञा, परिभाषा, स्वर, शिक्षा, उच्चारण दोष, ध्वन्यागम, छन्द आदि ही प्रातिशख्यों के मुख्य प्रतिपाद्य हैं।

यास्क कहते हैं-कि पद प्रकृतिः संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।

महाभाष्य में भी कहा है– सर्ववेद परिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आख्यातुम्। कैयट इसका अर्थ करते हैं– अध्येतृसंघः परिषत्। तत्र भवं पारिषदम्। (तत्पुरुषे कृति बहुलम ६/३/१४)। इस प्रकार एक चरण वाले विभिन्न शाखाध्येताओं की सभा पर्षद् अथवा परिषद् है और उनके व्याख्या ग्रन्थ पार्षद या पारिषद हैं।

इस प्रकार प्रातिशाख्य पद-प्राकृतिक हैं। अर्थात् पदों की प्रकृति मानकर संहिता में होने वाले विपर्ययों का वर्णन करते हैं। प्रातिशाख्यों में पदों में संहिता के कारण होने वाले विकारों के अतिरिक्त शिक्षा का भी सूक्ष्म विवेचन है। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् सूत्र के भाष्य में भाष्यकार प्रातिशाख्य और व्याकरण का अंतर स्पष्ट करते हैं। वे प्रातिशाख्यों को छन्दःशास्त्र कहते हैं और व्याकरण को उसकी अगली विद्या कहते हैं। स्वरित में कितना अंश उदात्त है, कितना

अनुदात्त यह बतलाते हुए वे कहते हैं–आचार्यः सुहृद्भूत्वा अन्वाचष्टे इयदुदात्तमियदनुदात्तमिति और इस पर आक्षेप करते हैं– यद्ययमेवं सुहृत् किमन्यान्यप्येवं जातीयकानि नोपदिशाति। कानि पुनस्तानि स्थानकरनणानप्रदानानि।

व्याकरणं नामेयमुत्तरा विद्या।
सोऽसौ छन्दःशास्त्रेस्वाभिविनीत उपलब्ध्याधिगन्तुमुत्सहते।

यदि पाणिनि इतने ही सुहृत् हैं तो स्थान करण अनुप्रदान आदि का उपदेश क्यों नहीं करते। इसके उत्तर में वे कहते हैं कि व्याकरण वस्तुतः इसके आगे वाली विद्या है, जो छन्दःशास्त्र अर्थात् प्रातिशाख्यों में शिक्षित है। वे उनकी उपलब्धि से इसे जानने में समर्थ हैं।

इससे स्पष्ट है कि प्रातिशाख्य व्याकरण नहीं है। उनके उपदेश का प्रयोजन पदपाठ और क्रमपाठ ही है। इसीलिये पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि कहा है। संहिता पाठ प्रकृति है और पदपाठ उसकी विकृति है। प्रतिशाख्य क्रमपाठ में दो-दो पदों के संयोग में होने वाले वर्णविकार तथा स्वर विकार बतलाते हैं, तथा पदपाठ में पदच्छेद अवग्रह और प्रगृह्त्त्व का निर्देश करते हैं।

इस प्रकार कोई भी प्रातिशाख्य पदों का प्रकृति प्रत्यय विभाग करके व्याकृति नहीं बतलाता। प्रातिशाख्यों की प्रकृति पद है और व्याकरण की प्रकृति धातु तथा प्रातिपदिक है। इस प्रकार प्रातिशाख्यों से वैदिक शब्दों की सिद्धि नहीं होती।

आज उपलब्ध जो भी व्याकरण है उनमें से कातन्त्रादि व्याकरण केवल लौकिक शब्दों की सिद्धि वाले हैं। आपिशलि के अक्षरतन्त्र आदि प्रतिशाख्यवत् ही हैं। इस प्रकार वैदिक शब्दों की सिद्धि करने वाला एक मात्र ग्रन्थ है पाणिन्यष्टाध्यायी। इसीलिये भाष्यकार कहते हैं–अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम् लौकिकानां वैदिकानाञ्च।

कैयट कहते हैं कि वैदिक शब्द भी वस्तुतः लौकिक ही हैं। उनकी प्रधानता बतलाने के लिये उनका पृथक् उपादान किया है वैदिकानाम् अपि लौकिकत्वे प्राधान्यख्यापनाय पृथगुपादानाम्। यथा ब्राह्मण आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इति वसिष्ठस्य।

वस्तुतः प्रारंभ में वैदिक लौकिक शब्दों का कोई विभाग ही नहीं था। मीमांससूत्र कहता है–प्रयोगचोदनाभावादर्थकत्वमविभागात् (मी. १/३/३०) इसकी व्याख्या में शबरस्वामी कहते हैं–

य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्थाः॥

वाजसनेय प्रतिशाख्य में कात्यायन मुनि ने भी यही कहा है–न समत्वात्। जिसकी व्याख्या में उवट तथा अनन्तदेव यही कहते हैं–

य एव वैदिकास्त एव लौकिकास्त एव च तेषामर्थाः।

यास्क भी कहते हैं– अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्। (१/१६ निरुक्त) लौकिक तथा वैदिक शब्दों में समानता होने से वैदिक शब्द अर्थवान् हैं।

इस प्रकार शब्द अर्थ सम्बन्ध के परमाचार्य जैमिनि और यास्क आदि एक ही बात कहते हैं कि लौकिक वैदिक शब्द एक ही हैं।

इन शब्दों की सिद्धि करने वाला एक मात्र व्याकरण है पाणिनि की अष्टाध्यायी। इसमें लौकिक-वैदिक शब्दों की सिद्धि साथ-साथ की गई है। अष्टाध्यायी में जहाँ छः सम्प्रसारणम् सूत्र (६/१/३२) तथा अभ्यस्तस्य व्यं (६/१/३३) सूत्र ह्वेञ् धातु के सम्प्रसारण की भी बात करते हैं और अजूहवत्, जुहाव, जुहूषति आदि की सिद्धि करते हैं, इसके तत्काल बाद वे बहुलं छन्दसि कहकर बतला देते हैं कि वेद में ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण बहुल करके होता है। सम्प्रसारण होने पर देवीं सरस्वतीं हुवे बनता है और न होने पर ह्यामि मरुतः शिवान् बनता है।

इस सम्प्रसारण को वस्तुतः इसी स्थान पर ही समझा जा सकता है जो भट्टोजि दीक्षित ने हः सम्प्रसारण को लौकिक मानकर अलग पटक दिया है और बहुलं छन्दसि को ग्रन्थ के अन्त में वैदिकी प्रक्रिया में डाल दिया है, वहाँ बैठकर वह अनर्थक हो जाता है। घञपोश्च सूत्र (२/४/३८) अद् धातु को घस् आदेश करता है, उसके ठीक बाद जो बहुलं छन्दसि सूत्र आता है वह उसी आदेश को वेद में वैकल्पिक कर देता है। (घस्तान्नूनम् आजामद्य मेद उद्भृतम्) ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् सूत्र (३/३/८७) क्विप् प्रत्यय का विधान करता है तो ब्रह्महा भ्रूणहा आदि शब्द बनते हैं, उसके ठीक बाद आया बहुलं छन्दासि सूत्र हन् धातु से होने वाले क्विप् प्रत्यय को वेद में वैकल्पिक करके मातृहा मातृघातः आदि बना देता है।

इस प्रकार लौकिक वैदिक प्रयोगों की सिद्धि साथ साथ होती चलती है।

यहाँ यह भी समझना चाहिए कि जहाँ वेद के लिये कोई पृथक् विधान नही है वहाँ जो लौकिक शब्द हैं, वही वैदिक हैं, जैसे-ब्राह्मणः ब्राह्मणौ इन दो प्रयोगों के लिये वेद में पृथक् विधान नहीं है, तो लोक में भी ब्राह्मणः ब्राह्मणौ बनेगा ओर वेद में भी, किन्तु जस् प्रत्यय परे होने पर वेद में आज्जसेरसुक् से

असुक् का विधान किया है अतः जस् प्रत्यय परे होने पर ब्राह्मणासः, जनासः आदि प्रयोग बनते हैं।

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा सूत्र का योग विभाग करके भाष्यकार ने लौकिक शब्दों की सिद्धि की सारी व्यवस्था का वेद में व्यत्यय कर दिया है, यथा-सुपां व्यत्ययः- युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणयाः इति प्राप्ते। तिडां व्यत्ययः। चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति-तक्षन्ति इति प्राप्ते। वर्णव्यत्ययः त्रिष्टुभौजः शुमितमुग्रवीरम्-सुहितमिति प्राप्ते। लिङ्व्यत्ययः-मधोर्ग्रह्णाति-मधुन इत प्राप्ते। कालव्यत्ययः-श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन-श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन श्व आधाता, श्वो यष्टा इति प्राप्ते। पुरुषव्यत्ययः अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः-वियूयाद् इति प्राप्ते। आत्मनेपदव्यतययः-ब्रह्मारिणमिच्छते-इच्छति इति प्राप्ते। परस्मैपदव्यत्ययः प्रतीपमन्य उर्मिर्युध्यति-युध्यते इति प्राप्ते।

इसी प्रकार व्यत्ययो बहुलम् में विकरण का व्यत्यय बतलाया गया है-करोति के स्थान पर करति, म्रियते के स्थान पर मरति, भिन्नत्ति के स्थान पर भेदति आदि।

इस प्रकार लौकिक शब्दों की पूरी व्यवस्था वेद में वैकल्पिक हो जाती है। यह विकल्प का महास्त्र देकर उन्होंने सारे वैदिक शब्दों की एक निश्चित प्रक्रिया से सिद्ध करने का राजमार्ग हमें प्रदान कर दिया है। तथापि छन्दांसि दृष्टानुविधि के अनुसार हमें वेद के दृष्ट प्रयोगों की सिद्धि कर लेना चाहिये। लौकिक शब्दों को सिद्ध करने की जो प्रक्रिया है, उसी से वैदिक शब्दों की सिद्धि होती चलती है, अतः उसे पूरी प्रक्रिया से पृथक् पीछे डाल देने से ऐसा लगता है कि वैदिक व्याकरण पृथक् है तथा लौकिक पृथक्। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण दोनों शब्दों की साथ-साथ सिद्धि करता है, वहाँ पार्थक्य दृष्टि ही नहीं है। २६३ सूत्र वैदिकी प्रक्रिया के हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि शेष सूत्र लौकिकी प्रक्रिया के हैं। इन २६३ सूत्रों के अलावा सूत्रों से जो कुछ भी सिद्ध होता है वह लोक तथा वेद मे समान होता है। यह जानना चाहिये। बहुलं छन्दसि सूत्रद ११ बार कहा है तथा एक है बहुलं छन्दस्यामाङ्योगेऽपि। ये कौमुदी में पीछे बैठकर कुछ भी बतलाने में असमर्थ हैं। ये लौकिक सूत्रों के साथ बैठकर अपने अर्थ को स्वयमेव प्रकाशित कर देते हैं। जब कहा जाता है अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२/४/७३) अर्थात् अदादिगण पठित धातुओं से परे आने वाले शप् का लुक् हो जाता है तो हन् धातु से हन्ति बनता है। उसके ठीक बाद में जब कहा जाता है-बहुलं छन्दभि (२/४/८४) तो उसका अर्थ होता है कि वेद में यह शप्लुक् बहुल करके होता है तो वृत्रं हनति, अहिः शयते आदि वही, साथ ही बन जाते हैं।

इसी प्रकार जब जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२/४/७५) जुहोत्यादि गण पठित धातुओं से परे आने वाले शप् को श्लु करता है तब इन धातुओं का श्लौ से द्वित्व होकर ददाति आदि बनते हैं।

इसके बाद आने वाला बहुलं छन्दसि कहता है कि वेद में शप् को श्लु बहुल करके होता है तो जब शप् का श्लु नहीं होता तो श्लौ से द्वित्व भी नहीं होता और दाति प्रियाणि आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस प्रकार लौकिक वैदिक प्रयोग साथ-साथ सिद्ध होते चलते हैं और अनायास सारे शब्दों की सिद्धि हो जाती है।

भगवान् पाणिनि का यह महत् प्रयोजन कौमुदी में आकर उच्छिन्न हो जाता है। वहाँ छात्र को लगता है कि पीछे जो वैदिकी प्रक्रिया में सूत्र दिये हैं वे तो वेद के लिये हैं, उनसे वैदिक शब्द बनेंगे। जो अभी पढ़ रहे हैं, उनसे लौकिक शब्द सिद्ध हो रहे हैं, ऐसा नहीं है। लौकिक शब्द तो वैदिक हैं ही, पर वैदिक शब्द लौकिक नहीं है। जैसे लेट् लकार केवल वैदिक है, लौकिक नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि शेष लकार वैदिक-लौकिक दोनों ही हैं।

अष्टाध्यायी में स्वर के ३२९ सूत्र हैं जो कि लगभग क्रम से ही आये हैं। उन्हें उठाकर जो सिद्धान्त कौमुदी में पीछे स्वर प्रक्रिया में रख दिया गया हैए उससे कुछ विशेष हानि नहीं हो पाती, क्योंकि उनसे अनुवृत्ति क्रम में बहुत बड़ा व्याघात नहीं होता।

इस प्रकार अष्टाध्यायी के समस्त सूत्र वैदिक प्रयोगों की सिद्धि के लिये हैं। उन्हें पृथक् करके लौकिक-वैदिक का विभाग कर देने से ऐसा ग्रुप हो जाता है कि लौकिक व्याकरण पृथक् है। वैदिक पृथक्। इससे हमें मुक्त होना चाहिये। और अष्टाध्यायी जो कि एक मात्र वैदिक व्याकरण है, उससे उभय शब्दों की समकाल में सिद्धि करना चाहिये।

वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सत्ता के तीन स्तर हैं– आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। ये तीन परस्पर एक-दूसरे में अनुस्यूत हैं। अग्नि का एक भौतिक रूप है, जो चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय बनता है। एक और अग्नि सब प्राणियों के भीतर है। वैदिक ऋषियों ने इसे वैश्वानर अग्नि कहा है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है–

अयमग्निर्वैश्वानरः। योऽयमन्तःपरुषे, येनेदमन्नं पच्यते।

(शतपथब्राह्मण, १४.८.१०.१)

यह अग्नि मनुष्य की जीवनीशक्ति या ऊर्जा है। अग्नि का एक तीसरा रूप है। यह ब्रह्माग्नि है। यह हमारे चिन्तन का उत्स है। मैत्रायणी संहिता कहती है–"अग्नि ही ऋषि है।" इस तरह ये तीनों अग्नियाँ वैदिकऋषियों की दृष्टि में एक ही तत्त्व के तीन रूप हैं।

इसलिये वैदिक ऋषियों की दृष्टि में ईश्वर हमारे इस भौतिक संसार से अलग और परे कोई सत्ता नहीं है, वह इस जगत् में समाया हुआ है और यहाँ रहकर अपने कर्म से उसे हम पा सकते हैं। वैदिक ऋषियों के इस विश्वास और संकल्प को संस्कृत साहित्य की सुदीर्घ कालावधि में विस्तृत परम्परा बराबर ध्वनित करती आई है।

भारवि किरातार्जुनीय में अर्जुन के तप का वर्णन करते हुए कहते हैं–"व्रत से कृकाय हुआ वह अर्जुन जब नियमाभिषेक के लिये चलता, तो उसके पैरों से दब-दब कर हिमालय धरती में धँसता हुआ लगता।"(किरातार्जुनीय, १२.१०)

संस्कृत के ही नहीं, इतर भाषाओं के भी भारतीय कवि भी वैदिक भावनाओं से अभिप्रेरित होते आये हैं। तुलसीदास नानापुराणनिगमागमसम्मत रचना की ओर प्रवृत्त होते हैं। रवीन्द्रनाथ भावाकुल होकर उर्वशी का अपनी कविता में आह्वान करते हैं, तो उसमें ऋग्वेद के पुरूरवोर्वशीसूक्त के पुरूरवा की करुण पुकार प्रतिध्वनित होती हुई लगती है।

प्रस्तुत संगोष्ठी का लक्ष्य अतीत की ओर लौटना नहीं है। अतीत की समग्रता में व्याख्या और हमारे समय में उसके सातत्य की सम्भावनाओं का विचार यहाँ उद्दिष्ट है। वस्तुतः वैदिक चिन्तन और जीवनदृष्टि ने हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को सौन्दर्यबोध, कलासृष्टि और मिथकों के अनेक प्रतिमान और प्रतिदर्श प्रदान किये हैं।